संसदीय चुनावों में हमारी कार्यनीति

बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था और संसदीय चुनावों के प्रति रूख का सवाल भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में नक्सलबाड़ी के समय से ही एक महत्वपूर्ण सवाल रहा है । एक रूप में कहा जाये तो 1951 से 1967 के बीच भाकपा और माकपा के सुधारवाद और संशोधनवाद ने सबसे गहन अभिव्यक्ति संसदवाद में पायी । भाकपा द्वारा खुले रूप में संसदीय रास्ता स्वीकार कर लेने और माकपा द्वारा प्रकारान्तर से इस पर चलने के बाद इन दोनों ही पार्टियों के नेता संसद और विधानसभाओं में कैद होकर रह गये तथा इनकी सारी गतिविधियां चुनाव केन्द्रित हो गई । किसी तरह चुनाव जीतना लक्ष्य हो गया और उसके बाद किसी भी तरह प्रदेशों में प्रादेशिक सरकारें चलाना भी । नक्सलबाड़ी के समय इसी तरह की जोड़-तोड़ से बनी पश्चिम बंगाल की सरकार में माकपा कनिष्ठ साझेदार के तौर पर शामिल थी जिसमें ज्योति बसु गृहमंत्री थे । चूंकि भाकपा और माकपा के सुधारवाद और संशोधनवाद ने सबसे गहन अभिव्यक्ति इनके संसदवाद में पाई थी इसलिये इस संशोधनवाद के प्रति हुआ नक्सलबाड़ी विद्रोह इसके खिलाफ अतिरेक पर चला गया। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के समस्त अनुभव के विपरीत जाकर तत्कालीन नेतृत्व ने यह घोषित कर दिया कि संसदीय चुनावों में किसी भी तरह की भागीदारी अवसरवाद है, संशोधनवाद है। चुनाव बहिष्कार का नारा एकमात्र सही नीति मान ली गई।

तब से लेकर आज तक भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर का एक हिस्सा इस नीति पर चलता रहा है । वह चुनाव बहिष्कार को एकमात्र सही नीति मानता रहा है तथा इससे भिन्न मत रखने वालों को स्वतः ही गैर क्रांतिकारी या अवसरवादी चरित्र का मान लेता रहा है । यहां तक कि संसदीय चुनावों के बारे में बहिष्कार के अलावा किसी भिन्न नीति की बात करने को भी यह अवसरवाद की ओर विचलन की शुरूआत मानता रहा है ।

दूसरी ओर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन के एक अन्य हिस्से ने इससे भिन्न रूख अपनाया । इस हिस्से के भिन्न-भिन्न संगठनों ने विभिन्न समय पर संसदीय चुनावों के बहिष्कार के अपनी नीति की समीक्षा की और वे क्रमशः इस नतीजे पर पहुंचे कि संसदीय चुनावों में भागीदारी की जानी चाहिये । इनमें से ज्यादातर संगठनों ने चुनाव में हिस्सेदारी की और कालान्तर में इनमें से ज्यादातर संसदवाद के शिकार हो गये । इनके संसदवाद का शिकार हो जाने से पहले हिस्से की अपनी नीति को बल प्रदान किया और इस धारणा को पुख्ता किया कि चुनाव बहिष्कार के अलावा कोई अन्य नीति अवसरवाद की ओर विचलन है जो कालांतर में पूर्ण संशोधनवाद में रूपान्तरित हो जायेगी ।

न केवल भारत का इतिहास बल्कि सारी दुनिया का इतिहास इस धारणा को प्रबल करता है । सारी दुनिया में जब कम्युनिस्ट पार्टियों ने सुधारवाद-संशोधनवाद की ओर कदम बढ़ाये तब इसकी सबसे तीखी अभिव्यक्ति संसदवाद के प्रति उनके रुख में हुयी । वे संसदवाद के दलदल में फंस गये । इस तथ्य ने सुधारवाद और संसदवाद के बीच इस संबंध की

धारणा को पुख्ता किया । जो संसद में भागीदारी करेगा वह कालांतर में सुधारवादी हो जायेगा । इसने संसद और संसदीय चुनावों के प्रति हमेशा ही एक वितृष्णा को जन्म दिया जो उस प्रवृत्ति के रूप में अभिव्यक्त हुआ जिसे लेनिन ने ''वामपंथी''कम्युनिज्म का नाम दिया है ।

लेनिन द्वारा ''वामपंथी'' कम्युनिज्म की तीखी आलोचना किये जाने के बाद से कम्युनिस्टों के लिये यह संभव नहीं रहा कि वे संसद और संसदीय चुनावों के प्रति अपनी वितृष्णा को किसी भी कीमत पर चुनाव बहिष्कार के रूप में अभिव्यक्त करते रहें । उन्हें इसे स्वीकार करना पड़ा कि कम्युनिस्ट अपने क्रांतिकारी उद्देश्यों को हानि ही पहुंचायेंगे यदि वे हर-हमेशा चुनाव बहिष्कार का नारा देंगे । तब चुनाव बहिष्कार की नीति का जायज ठहराने के लिये अन्य तर्क विकसित किये गये और अक्सर इसके लिये चीनी क्रांति के अनुभव को आधार बनाया गया । नक्सलबाड़ी के समय घोषित कर दिया गया कि चूंकि भारत एक अर्ध-सामन्ती अर्ध-औपनिवेशिक समाज है और ऐसे समाज में क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां हमेशा तैयार होती है क्योंकि यह समाज चिरंतन संकट का शिकार होता है इसलिये भारत के लिये संसदीय चुनावों में हिस्सेदारी का सवाल रणकौशल नहीं रणनीति का सवाल है । जनवादी क्रांति के पूरे दौर में संसदीय चुनावों में भागीदारी केवल जनता को क्रांतिकारी संघर्षों से दूर ही करेगी । इसलिये इस पूरे दौर में संसदीय चुनावों में भागीदारी का सवाल ही नहीं उठता है । ऐसे में जो कोई भी संसदीय चुनावों में भागीदारी की बात करता है वह इस क्रांतिकारी संघर्ष से पलायन की बात करता है, सुधारवाद की ओर जाना चाहता है ।

चीनी क्रांति के अनुभव से विकसित किया गया यह सिद्धान्त अनोखा था क्योंकि खुद चीन में कोई संसदीय व्यवस्था नहीं थी । चीन की नव-जनवादी क्रांति को किसी ऐसी संसदीय व्यवस्था से नहीं टकराना पड़ा था जो पचास सालों से जड़ जमाये बैठी हो । इसलिये उसके आधार पर रणकौशल के सवाल का रणनीति के सवाल में रूपान्तरित करने में काफी सैद्धान्तिक कसरत करनी पड़ी तथा हमेशा ही इससे असंतोष जाहिर कर इस पर सवाल उठते रहे ।

संसदीय व्यवस्था और संसदीय चुनावों के बारे में कम्युनिस्टों के रूख के बारे में लेनिन की 'वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज' आज भी सर्वोत्तम प्रस्तुति है । इस सवाल के सभी पहलुओं का विश्लेषण यहां सर्वोत्तम रूप में उपलब्ध है ।

लेनिन इस बुनियादी प्रस्थापना से प्रस्थान करते हैं कि सोवियतों की स्थापना के बाद बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो चुकी है । अब वह ऐतिहासिक तौर पर पुरानी चीज हो चुकी है जिसे धीमे-धीमे इतिहास में विलीन हो जाना है ।

लेकिन किसी चीज के ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो जाने का मतलब यह नहीं होता कि वह तात्कालिक और राजनीतिक तौर पर भी कालातीत, महत्वहीन हो गयी है । बल्कि होता यह है कि ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो जाने के बाद भी कोई चीज लम्बे समय तक बनी रहती हैं । यह बात कुछ वैसी ही है जैसी माओ की साम्राज्यवाद की अवधारणा, जब माओ ने कहा था कि साम्राज्यवाद कागजी बाघ है तो उनका आशय साम्राज्यवाद के दूरगामी भविष्य से था । दूरगामी तौर पर साम्राज्यवाद कागजी बाघ साबित होगा और नष्ट हो जायेगा । लेकिन तात्कालिक तौर पर वह बहुत खूंखार है और लाखों-करोड़ों इंसानों का भक्षण कर रहा है ।

ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो जाने के बाद भी चूंकि बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था तात्कालिक राजनीतिक तौर पर महत्वपूर्ण बनी हुई है इसलिये कम्युनिस्ट इसे नजरअंदाज नहीं कर सकते और न ही इसे फूंक मार कर उड़ा सकते हैं । वे ऐसा इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि आम जनता का भारी हिस्सा(चाहे वह अल्पमत ही क्यों न हो) इस संसदीय व्यवस्था के मोह का, भ्रम का शिकार होता है । जब तक ऐसा रहता है तब तक कम्युनिस्ट संसदीय चुनावों से किनाराकशी नहीं कर सकते ।

संसद और संसदीय चुनावों के प्रति लेनिन ने कम्युनिस्टों की एक ही कार्यनीति प्रस्तुत की : जहां कहीं भी आम जनता विद्यमान है वहां कम्युनिस्टों को जाना चाहिये तथा वहां जनता को संबोधित कर वर्तमान व्यवस्था के प्रति उसका मोहभंग करना चाहिये और उसे क्रांति की और मोड़ना चाहिये । इसी तरह जिस मंच से संभव हो उसका इस्तेमाल कर जनता में अपनी बात पहुंचानी चाहिये । खुद बुर्जुआ संस्थाओं का भंडाफोड़ करने के लिये और जनता का इनसे मोहभंग करने के लिए भी इनका इस्तेमाल किया जाना चाहिये ।

इन बातों में निहित था कि खुद कम्युनिस्टों को इस बुर्जुआ व्यवस्था के प्रति कोई मोह नहीं पालना चाहिये तथा ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये जिससे कि जनता में इन संस्थाओं की वैधानिकता बढ़े, उन्हें मजबूती हासिल हो ।

जनता की निगाहों में लगातार व्यवस्था का भंडाफोड़ तथा बुर्जुआ पूर्वाग्रहों से मुक्त कर उसे क्रांति की ओर ले आना, यही थी लेनिन की कार्यनीति । संसदीय चुनावों में भागीदारी या उसका बहिष्कार इसी से तय होते हैं । जब जनता का बहुमत या भारी अल्पमत बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था से बाहर न सोचता हो तो कम्युनिस्टों को चुनावों में हिस्सेदारी करनी चाहिये तथा चुनाव के समय और चुनाव जीत कर संसद के भीतर से जनता का व्यवस्था से मोहभंग करना चाहिये । लेकिन चुनावों में किसी भी तरह जीत हासिल करना उनका लक्ष्य नहीं होना चाहिये । दूसरी ओर जब जनता संसद से दूर हो कर क्रांतिकारी रास्ते पर बढ़ रही हो तब उसे संसदीय दायरे में नहीं समेटना चाहिये । तब चुनावों का बहिष्कार ही सही कार्यनीति होती है ।

इसी से कार्यनीति का सामान्य सूत्र निकलता है कि जब जनता विद्रोह के रास्ते पर बढ़ रही हो तब चुनावों का बहिष्कार करना चाहिये तथा जब शान्तिकाल हो, क्रांतिकारी संघर्षों के थमने या पीछे हटने का काल हो तब चुनावों में भागीदारी करनी चाहिये । लेकिन उग्र क्रांतिकारी दौर में भी यदि जनता का भारी अल्पमत बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के दायरे में सोच रहा हो तो विद्रोह का नेतृत्व करते हुए भी कम्युनिस्टों को बुर्जुआ चुनावों में भागीदारी करनी चाहिये ।

लेनिन संसदवाद के खतरे से भली-भांति वाकिफ थे । दूसरे इंटरनेशनल का सारा इतिहास उनकी आंखों के सामने था । लेकिन उनका साफ कहना था कि कम्युनिस्टों को इस खतरे का सामना करना चाहिये । इस खतरे से डर कर पलायन जनता से ही पलायन होगा । कम्युनिस्ट संसदवाद के खतरे से पलायन कर अपनी तथाकथित पवित्रता को बरकरार रख सकते हैं लेकिन वे शोषित-उत्पीड़ित जनता के नेता नहीं बन सकते । बात तो तब बनेगी जब संसदीय चुनावों में भागीदारी करने पर भी कम्युनिस्ट अपनी पवित्रता बरकरार रख सकें और लाखों-करोड़ों जनता को अपने पीछे गोलबंद कर सकें ।

शांतिपूर्ण समय में संसदीय चुनावों में भागीदारी और संसद के भीतर से भंडाफोड़ की कार्यनीति पर पर जोर देते हुए भी लेनिन ने साफ कहा था कि संसदीय चुनावों में भागीदारी कम्युनिस्ट पार्टी का एकमात्र तो क्या प्रमुख कार्य भी नहीं

बन सकता । जनता को क्रांति के लिये गोलबंद करने के लिये किये जाने वाले ढेरों कार्यों में संसदीय चुनाव एक कार्य होना चाहिये और उसे कभी भी प्रमुख कार्य नहीं बनने देना चाहिये। इसी तरह पार्टी का संसदीय गुट शेष पार्टी पर कभी भी हावी नहीं होना चाहिये । इसके विपरीत इस गुट को पार्टी के नेतृत्व के मातहत रखा जाना चाहिये तथा इसको भ्रष्ट हो जाने से बचाने के लिये इसे पार्टी द्वारा स्पष्ट निर्देश दिये जाने चहिए। इन निर्देशों के उल्लंघन पर कठोर अनुशासनात्मक कार्यवाही की जानी चाहिये ।

लेनिन द्वारा सूत्रित उपरोक्त कार्यनीति की रोशनी में देखें तो आज की भारतीय परिस्थितियों में चुनाव बहिष्कार का नारा बेमानी है। आज भारत क्रांतिकारी संकट से काफी दूर है । आज जनता विद्रोह की ओर नहीं बढ़ रही है और न ही उग्र जनसंघर्षों की ओर । इसके विपरीत एक चुप्पी छायी है खासकर मजदूर मोर्चे पर । मजदूर मोर्चे पर क्रांतिकारी तो क्या ट्रेड-यूनियन संघर्ष भी आज काफी मद्धिम हैं । बुर्जुआ पर्टियों से काफी ज्यादा मोहभंग के बावजूद खुद बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था से जनता का मोहभंग काफी कम हुआ है । 'वोट देकर हम ही सरकार बनाते हैं', यह भ्रम बहुत ज्यादा मौजूद है । जनता का संसदीय व्यवस्था से यह मोह 'ऐन्टी इन्कम्बेन्सी' में भी दिखाता है जब एक पार्टी की सरकार से नाखुश होकर जनता दूसरी पार्टी को वोट दे देती है और इस तरह पार्टियों की अदला-बदली चलती रहती है ।

ज्यादा नजदीक से देखने पर चुनाव बहिष्कार का नारा एक अन्य दृष्टिकोण से भी बेमानी है । पिछले संसदीय चुनावों में वोट देने वाली जनता का प्रतिशत मोटा-मोटी एक रहा है - पचास से साठ प्रतिशत के बीच । और यह प्रतिशत शुरूआती चुनावों से भी ज्यादा भिन्न नहीं है। लेकिन इस बीच एक परिघटना हुई है जो कम्युनिस्टों के लिये महत्वपूर्ण है । पिछले पचास सालों में बुर्जुआ पार्टियों की मौकापरस्ती, सिद्धान्तविहीनता और भ्रष्टाचार से ऊबकर पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग का एक भारी हिस्सा संसदीय चुनावों के प्रति अन्यमनयस्क हुआ है । उसने नेताओं, पार्टियों को गाली देते हुए वोट देना बन्द कर दिया है । लेकिन इसके विपरीत गरीब लोगों के बीच खासकर खेतीहर मजदूरों और गरीब किसानों के बीच संसदीय व्यवस्था ने पहले से ज्यादा गहरी जड़ जमायी है । इसका कारण भारत की जातीय व्यवस्था है । पहले(और आज भी) ज्यादातर गरीब आबादी दलित और मध्यम जातियों से बनी थी । इस आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा भाकपा-माकपा के पीछे गोलबन्द था जबकि इसका ज्यादातर हिस्सा कांग्रेस पार्टी के संरक्षण में था । यह हिस्सा गांवों के प्रभुत्वशाली लोगों के कहने पर या उनके दबाव में कांग्रेस पार्टी को वोट दे देता था ।

लेकिन कालान्तर में इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले मध्यम व दलित जातियों की पार्टियां उभरी और उन्होंने जाति की पहचान को ही अपनी गोलबंदी का आधार बनाया । अब मध्यम और दलित जातियों के गरीब लोग सचेत तौर पर इन पार्टियों के पीछे गोलबन्द हो गये हैं और इन्हें अपनी पार्टी मानते हुए वोट देने लगे । समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी इसकी स्पष्टतम अभिव्यक्ति हैं । इन पार्टियों को वोट देकर इन गरीब लोगों ने महसूस किया कि उन्होंने अपने वोट से अपनी सरकार बनायी है । मायावती की सरकार दलितों की सरकार है। अपने को सचेत तौर पर इस सरकार के साथ चिह्नित करने और इसे अपनी सरकार मानने के कारण और इसके सारे नेताओं के सभी गुनाहों को माफ करने को तैयार रहते हैं । मायावती की तड़क-भड़क वाली जिन्दगी और बसपा का सारा अवसरवाद इनकी निगाहों में जायज है ।

इस तरह बुर्जुआ व्यवस्था ने दलित गरीबों तक अपने आधार का विस्तार किया है। संसदीय चुनावों का इस्तेमाल कर बुर्जुआ व्यवस्था ने एक अनपढ़ गरीब दलित को भी अपने में समेट लिया है और अपने में उसके विश्वास को पहले के मुकाबले में कहीं ज्यादा पुख्ता किया है । कांग्रेस पार्टी का पराभव और सपा-बसपा का उत्थान बुर्जुआ व्यवस्था के नीचे ज्यादा विस्तार का भी सूचक है । इस रूप में कहा जाय तो यह बुर्जुआ जनवाद का विस्तार होने के साथ-साथ भारत की गरीब आबादी में बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के ज्यादा सुदृढ़ीकरण को अभिव्यक्त करता है। कहने का मतलब यह है कि पिछले 25-30 सालों में भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के सारे संकट के बावजूद मध्यम और दलित जातियों की गरीब आबादी का बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के प्रति मोह पहले से कहीं ज्यादा है । पहले यदि गांव का गरीब दलित किसी प्रभावशाली व्यक्ति के कहने से कांग्रेस पार्टी को वोट दे देता था वह अब सचेत तौर पर बसपा को वोट देता है और'बहन' मायावती के मुख्यमंत्री बनने पर गर्व महसूस करता है ।

और ठीक यही गरीब आबादी कम्युनिस्टों के लिऐ सबसे महत्वपूर्ण है । यह कम्युनिस्टों का संभावित आधार है। यानी ठीक कम्युनिस्टों के संभावित आधार का ही पिछले सालों में संसदीय व्यवस्था से मोह बढ़ा है। और संशोधनवादी कम्युनिस्टों से लेकर क्रांतिकारी कम्युनिस्टों तक ने इसे इस या उस रूप में महसूस किया है। यदि भाकपा, माकपा और भाकपा(माले) के सांसद- विधायक सपा,बसपा या राजद में पलायन कर गये हैं तो क्रांतिकारी ग्रुपों का आधार भी इससे प्रभावित हुआ है ।

ऐसे में जब जनता के निचले हिस्से का संसदीय व्यवस्था से मोह बढ़ा हो तब चुनाव बहिष्कार का नारा देकर संसदीय चुनावों से किनाराकशी आत्मघाती कदम है क्योंकि यह कार्यनीति जनता को बुर्जुआ पार्टियों की गोद में धकेल देती है । चुनाव बहिष्कार का नारा देकर कम्युनिस्ट किनारे खड़े रहते हैं और जनता कांग्रेस, भाजपा,सपा,बसपा को वोट देती रहती है। हथियारों के बल पर बुर्जुआ पार्टियों और नेताओं को धमकाना भी इसमें कुछ कारगर नहीं होता। नेता और पार्टियां डर के मारे चुनाव प्रचार नहीं करेंगे और जनता डर के मारे वोट देने नहीं जायेगी लेकिन इससे जनता का संसदीय व्यवस्था से मोहभंग नहीं हो जाता ।

इस तरह भारत में वर्तमान हालात में चुनाव बहिष्कार का नारा बेमानी नारा है । लेकिन तब क्या कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को संसदीय चुनावों में हिस्सेदारी करनी चाहिये ?

इस सवाल के उत्तर के लिये यह सवाल पूछा जाना चाहिये कि क्या वर्तमान कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुप चुनावों में हिस्सेदारी कर बुर्जुआ व्यवस्था से आम तौर पर तथा बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था से खास तौर पर जनता का किसी हद तक मोहभंग कर सकते हैं? क्या वे इतने शक्तिशाली हैं कि चुनावों में भागीदारी कर जनता पर कुछ प्रभाव छोड़ सकते हैं?यदि हां तो उन्हें जनता में अपने क्रांतिकारी विचारों के प्रसार के लिए चुनावों में हिस्सेदारी करनी चाहिये ।यदि नहीं तो उन्हें अन्य तरीका इस्तेमाल करना चाहिये ।

वह अन्य तरीका है चुनाव के समय चुनावी सरगर्मियों का इस्तेमाल करते हुए क्रांतिकारी राजनीति के प्रचार का, बुर्जुआ व्यवस्था के भंडाफोड़ का । इसमें चुनाव के बहिष्कार का नारा न देकर और न ही चुनाव में हिस्सेदारी कर विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल करते हुए कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को अपनी क्रांतिकारी राजनीति जनता तक पहुंचानी चाहिए और व्यवस्था से जनता का मोहभंग करने का प्रयास करना चाहिये ।

चुनाव के बारे में उपरोक्त कार्यनीति से भी स्पष्ट है कि यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को देश की राजनीति में प्रभावी दखलंदाजी करनी है तो उन्हें अपने को एक अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में एकजुट करना होगा। यदि आज वे एक पार्टी में गोलबंद होते तो संसदीय चुनावों में भागीदारी कर कहीं ज्यादा कारगर हस्तक्षेप कर पाते ।

कहने की बात नहीं कि संसदीय चुनावों को लेकर आज भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर में भांति-भांति के भटकाव मौजूद हैं । कुछ क्रांतिकारी ग्रुप संसदवाद के भटकाव से ग्रस्त हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य ग्रुप चुनाव बहिष्कार का नारा देकर 'वामपंथी'कम्युनिज्म पर डटे हुए हैं । ये अपने प्रभाव क्षेत्रों में हथियारों का इस्तेमाल कर चुनाव बहिष्कार में एक हद तक भले कामयाब हो जायें पर जनता का संसदीय व्यवस्था से मोहभंग नहीं कर सकते ।

चुनावों के समय और चुनावों को लेकर इस या उस बुर्जुआ पार्टी या संशोधनवादी पार्टी के प्रति रूख भी रणकौशल का सवाल ही है। यहां भी वही मापदंड काम करता है कि इस रुख से हमारी क्रांतिकारी राजनीति का प्रचार किस हद तक प्रभावित होगा तथा जनता के व्यवस्था से मोहभंग में इससे क्या मदद मिलेगी । कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को किसी भी हालत में ऐसा कोई रूख नहीं अख्तियार करना चाहिये जिससे किसी एक बुर्जुआ पार्टी के मुकाबले दूसरी बुर्जुआ पार्टी के स्थापित होने में मदद मिले । एक बुर्जुआ पार्टी के प्रति नरमी और दूसरे के प्रति कठोरता एक को दूसरे के मुकाबले स्थापित करती है ।

इस मामले में दो गलत रुख देखने में आये हैं । एक तो यह है कि किसी सत्ताधारी बुर्जुआ पार्टी के दमन या नीतियों से क्षुब्ध होकर उसे हराने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विपक्षी पार्टियों को मदद पहुंचाना । दूसरा है, जनवाद को आगे बढ़ाने के नामपर बसपा या राजद जैसी पार्टियों के प्रति नरम रूख अपनाना या अपने समर्थको को सीधे-सीधे इन्हें वोट देने के लिए कहना । इन दोनों से ही होता यह है कि जनता का,खासकर गरीब जनता का बुर्जुआ व्यवस्था और बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में मोह बढ़ता है । इससे जनता के क्रांतिकारीकरण में बाधा पहुंचती है इसलिये कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इस तरह के रणकौशल से बचना चाहिये ।